तत्त्वार्थसार

बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री

जैन आगम ग्रन्थों में तत्त्वार्थसूत्र का स्थान अतिशय महत्त्वपूर्ण है। वह ग्रन्थ प्रमाण से संक्षिप्त होने पर भी अर्थतः गम्भीर और विशाल है। उसके आश्रय से सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थ वार्तिक और श्लोक वार्तिक जैसे विस्तीर्ण टीका ग्रन्थों की रचना हुई है। प्रस्तुत तत्त्वार्थसार उसकी एक पद्यात्मक स्वतंत्र व्याख्या है। वह उसके सारभूत ही है, तत्त्वार्थ वार्तिक और श्लोक वार्तिक जैसी गम्भीर और विस्तीर्ण नहीं है। इसके कर्ता आचार्य अमृतचन्द्र हैं। उन्होंने ग्रन्थ के अन्त में "वर्ण पदों के कर्ता हैं, पदसमूह वाक्यों का कर्ता हैं, और वाक्य इस शास्त्र के कर्ता हैं, वस्तुतः हम इस के कर्ता नही हैं।" यह कह कर जो आत्म कर्तृत्वका निषेध किया है वह उनकी निरभिमानता और महत्त्व का द्योतक है। साथ ही यह भी स्मरणीय है कि आचार्य अमृतचन्द्र अध्यात्म सन्त थे। भगवान् कुन्द-कुन्द विरचित प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और समयप्राभृत जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थों पर उनके द्वारा निर्मित टीकाएं महत्त्वपूर्ण हैं। इस दृष्टि से भी उक्त तत्त्वार्थसार विषयक कर्तृत्व के अभिमान से अपने को पृथक् रखना उन जैसोंके लिये अस्वाभाविक नहीं है।

इसके अतिरिक्त यह भी विशेष ध्यान देने योग्य है कि वे कण्टकाकीर्ण एकान्त पथ के पथिक नहीं थे, प्रत्युत अनेकान्त वाद के भक्त व उसके प्रबल समर्थक थे। यह उनके द्वारा विरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपाय से भलीभाँति ज्ञात होता है। कारण कि वहां उन्होंने मंगल स्वरूप परंज्योति (जिनेन्द्र की ज्ञान ज्योति) के जयवन्त रहने की भावना को प्रदर्शित करते हुए अनेकान्त को नमस्कार किया है व उसे परमागम का बीज और समस्त एकान्तवादों का समन्वयात्मक बतलाया है।

इसी प्रकार नाटक-समयसार-कलश के प्रारम्भ में भी उन्होंने अनेकान्तरूप मूर्ति के सदा प्रकाशमान रहने की भावना व्यक्त की है तथा अन्त में यही सूचित किया है कि यह समय (समयसार) की व्याख्या अपनी शक्ति से वस्तुतत्त्व को व्यक्त करनेवाले शब्दों के द्वारा की गई है; स्वरूप में गुप्त अमृतचन्द्र सूरि का इसमें कुछ भी कर्तव्य (कार्य) नहीं है। उक्त अनेकान्त के समर्थन में वे इसी समयसार-कलश में कहते हैं कि 'स्यात्' पद से द्योतित—अनेकान्तस्वरूप-जिनवचननिश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों के विरोध को नष्ट करनेवाले हैं। उन में—अनेकान्तरूप जिनागम के विषय में—जो निर्मोही (सम्यग्दृष्टि) जन रमते हैं वे शीघ्र ही उस समयसारभूत परं ज्योति का अवलोकन करते हैं जो नयपक्ष से रहित है। इसीको और स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि यद्यपि प्राक् पदवी में—जब तक निश्चल दशा प्राप्त नहीं हुई है तबतक—व्यवहारनय व्यवहारी जनों को हाथ का सहारा देनेवाला है—निश्चय का साधक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होने से वह उनके लिए उपयोगी है। परन्तु जब वे अन्तःकरण में पर के सम्बन्ध से रहित शुद्ध चैतन्यरूप परमार्थ का दर्शन करने लगते हैं तब उन्हें उक्त व्यवहारनय कुछ भी नहीं रहता—वह उस समय निरर्थक हो जाता है (४–५)।

प्रस्तुत तत्त्वार्थसार में ये आठ अधिकार हैं—१ सप्ततत्त्वपीठिका, २ जीवतत्त्ववर्णन, ३ अजीवतत्त्ववर्णन, ४ आस्रवतत्त्ववर्णन, ५ बन्धतत्त्ववर्णन, ६ संवरतत्त्ववर्णन, ७ निर्जरातत्त्ववर्णन और ८ मोक्षतत्त्ववर्णन। इनमें श्लोकों का प्रमाण कमशः इस प्रकार है—५४, २३८, ७७, १०५, ५४, ५२, ६० और ५५। इसके अतिरिक्त अन्त में २१ श्लोकों के द्वारा सब का उपसंहार किया गया है।

१. **सप्ततत्त्वपीठिका**—इस प्रकरण में सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग को युक्ति और आगम से सुनिश्चित बतलाते हुए उन तीनों के लक्षण इस प्रकार कहे गए हैं—तत्त्वार्थश्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन, तत्त्वार्थावबोध का नाम सम्यग्ज्ञान और वस्तुस्वरूप को जानकर उसके विषय में उपेक्षा करना—न उसमें इष्ट मान कर राग करना और न अनिष्ट समझ कर द्वेष करना, इसका नाम सम्यक्चारित्र है।

चूंकि उक्त श्रद्धान, अधिगम और उपेक्षा के विषय भूतजीवादि तत्त्व हैं, अत एव जो मोक्षमार्ग को जानना चाहते हैं उनसे प्रथमतः उन जीवादि तत्त्वार्थों के जानने की प्रेरणा की गई है। आगे उन जीवादि तत्त्वार्थों का नामनिर्देश करते हुए उनके कथन का प्रयोजन यह बतलाया है कि जीव उपादेय और अजीव हेय है। इस हेयभूत अजीव (कर्म) के जीव में उपादानका कारण आस्रव है तथा उस हेय के ग्रहण का नाम बन्ध है। संवर और निर्जरा ये दोनों उस हेय की हानि के कारण हैं—नवीन हेय का रोकनेवाला संवर और पुरातन संचित उस हेय के जीव से पृथक् करने का कारण निर्जरा है। जीव का उस हेय से छुटकारा पा जाने का नाम मोक्ष है। इस प्रकार आत्मा के प्रयोजन को लक्ष्य में रखते हुए संक्षेप में उक्त जीवादि सात तत्त्वार्थों का स्वरूप यहां बहुत सुन्दरता के साथ बतलाया गया है।

तत्पश्चात् नामादि निक्षेपों के स्वरूप को बतलाकर भेदप्रभेदों के साथ प्रमाण और नय का विवेचन किया गया है। अन्त में निर्देशादि और सत्–संख्या आदि अन्य भी जो तत्त्व के जानने के उपाय हैं उनका भी निर्देश करके पीठिका को समाप्त किया गया है।

२. **जीवतत्त्वप्ररूपणा**—तत्त्वार्थसूत्र में जीवों की जो प्ररूपणा द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ इन तीन अध्यायों में की गई हैं वह सभी प्ररूपणा यहां कुछ विशेषताओं के साथ प्रकृत अधिकार में की गई है। सर्वप्रथम यहां यह बतलाया है कि सात तत्त्वों में जिस तत्त्व का स्वतत्त्व–निजस्वरूप–अन्य अजीवादि में न पाये जानेवाले औपशमिकादि पांच असाधारण भाव हैं उसका नाम जीव है। इस प्रकार जीव के स्वरूप का निर्देश करते हुए उक्त पांच भावों के स्वरूप और उनके पृथक् पृथक् भेदों का विवेचन किया गया है।

आगे कहा गया है कि जीवका लक्षण उपयोग है और वह उससे अभिन्न है। कर्म से सम्बद्ध होते हुए भी जीवकी अभिव्यक्ति इसी उपयोग के द्वारा की जाती है। यह उपयोग साकार और निराकार के भेद से दो प्रकार का है। जो विशेषता के साथ वस्तुको ग्रहण करता है वह साकार और जो बिना विशेषता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के (सामान्य से) वस्तुको ग्रहण करता है वह निराकार उपयोग कहलाता है। साकार उपयोग ज्ञान है और निराकार है दर्शन। ज्ञान मतिज्ञानादि के भेद से आठ प्रकार का और दर्शन चक्षु आदि के भेद से चार प्रकार का है।

इसके पश्चात् यहां जीवोंके संसारी और मुक्त इन दो भेदों का निर्देश करके उनमें संसारी जीवों की प्ररूपणा सैद्धान्तिक पद्धति के अनुसार चौदह गुणस्थान, चौदह जीवस्थान (जीव समास), छह पर्याप्तियों, दस प्राणों, आहारादि चार संज्ञाओं और चौदह मार्गणाओं के आश्रय से की गई है। आगे विग्रह गति का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि विग्रह का अर्थ शरीर होता है, पूर्व शरीर के छूटने पर नवीन शरीर की प्राप्ति के लिये जो गति होती है वह विग्रहगति कहलाती है। वह सामान्यरूप से दो प्रकार की है। सविग्रह मोड़सहित और अविग्रह–मोडरहित, वही विशेष रूप से इषुगति, पाणिमुक्ता, लांगलिका और गोमूत्रिका के भेद से चार प्रकार की है। इषुगति में मोड़ नहीं लेना पडता–वह बाणकी गति के समान सीधी आकाश प्रदेश पंक्ति के अनुसार होती है और उसमें एक समय लगता है। मुक्त होने वाले जीवों की नियमतः यही गति होती है। परन्तु अन्य (संसारी) जीवों में इसका नियम नहीं है—किन्ही के विग्रह रहित यह इषुगति होती है और किन्हीं के वह विग्रह-सहित भी होती है। दूसरी पाणिमुक्ता विग्रह गति में एक मोड़ लेना पड़ता है और उसमें दो समय लगते हैं। तिसरी लांगलिका गति में दो मोड़ लेने पड़ते हैं और उसमें तीन समय लगते हैं। चौथी गोमूत्रिका में तीन मोड़ लेने पडते हैं और चार समय उसमें लगते हैं। पाणिमुक्ता विग्रह गति में जीव अनाहारक–औदारिक आदि तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल के ग्रहण से रहित—एक समय रहता है। लांगलिका में वह दो समय और गोमूत्रिका में तीन समय अनाहारक रहता है।

उक्त विग्रहगति में जीव के औदारिक आदि सात काययोगों में एक कार्मण काययोग ही रहता है, जिसके आश्रय से वह वहाँ कर्म को ग्रहण किया करता है तथा नवीन शरीर को प्राप्त करता है।

आगे तीन प्रकार के जन्म और नौ योनियों का निर्देश करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि किन जीवों के कौनसा जन्म और कौनसी योनियां होती हैं। पश्चात् विशेषरूप से चौरासी लाख (८४०००००) योनियों में से किन जीवों के कितनी होती हैं, इसका भी उल्लेख कर दिया है। साथ ही यहां किन जीवों के कितने कुलभेद होते हैं, यह भी प्रगट कर दिया है।

तत्पश्चात् चारों गतियों के जीवों के आयुप्रमाण को बतलाकर नारकी, मनुष्य और देवों के शरीर की ऊंचाई का निरूपण करते हुए एकेन्द्रियादि जीवों के शरीर की अवगाहना के प्रमाण का निर्देश किया गया है।

आगे गति–आगति की प्ररूपणा में कौन कौन से जीव मरकर किस किस नरक तक जा सकते है तथा सातवें व छठे आदि नरकों से निकले हुए जीव कौन कौनसी अवस्था को नहीं प्राप्त कर सकते हैं, इसका विवेचन किया गया है। सब अपर्याप्तक जीव, सूक्ष्म शरीरी, अग्निकायिक, वायुकायिक और असंज्ञी ये जीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिर्यंचगति से नहीं निकल सकते—आयु के समाप्त होने पर पुनरपि तिर्यंचगति में ही वे रहते हैं। पृथिवीकायिक, अप्कायिक, वनस्पतिकायिक, विकलत्रय और असंज्ञी इनका मनुष्य और तिर्यंचों में परस्पर उत्पन्न होना विरुद्ध नहीं है—ये मरकर मनुष्य और तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं। नारकी और देवों का परस्पर में उत्पन्न होना विरुद्ध है—नारकी देव नहीं हो सकता और देव नारकी नहीं हो सकता। बादर पृथिवीकायिक, अप्कायिक और प्रत्येकशरीर वनस्पतिकायिक इनमें तिर्यंच और मनुष्यों का जन्म लेना सम्भव है। सब तेजकायिक और सब वायुकायिक जीव अगले भव में मनुष्यों में उत्पन्न नहीं हो सकते। पर्याप्त असंज्ञी तिर्यंचों का जन्म नारकी, देव, तिर्यंच और मनुष्यों में हो सकता है, परन्तु उनकी सभी अवस्थाओं में उनका जन्म लेना सम्भव नहीं है। अभिप्राय यह कि वे प्रथम पृथिवी के नारकियों में तथा भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी इन तीन प्रकार के देवों में ही उत्पन्न हो सकते हैं—अन्य नारकी और देवों में नहीं। इसी प्रकार भोगभूमिजों और पुण्यशाली मनुष्य-तिर्यंचों को छोडकर शेष मनुष्यों व तिर्यंचों में ही उत्पन्न हो सकते हैं।

असंख्यात वर्ष की आयुवाले (भोगभूमिज) मनुष्य और तिर्यंचों का जन्म संख्यात वर्ष की आयुवाले (कर्मभूमिज) संज्ञी मनुष्य और तिर्यंचों में से ही होता है। उक्त असंख्यात वर्ष की आयुवाले सभी भोगभूमिजों का संक्रमण स्वाभाविक मन्दकषायता के कारण देवों में ही होता है। तिर्यंच और मनुष्य अनन्तर भव में शलाका पुरुष नहीं होते, परन्तु मुक्ति कदाचित् वे प्राप्त कर सकते हैं। संज्ञी अथवा असंज्ञी मिथ्यादृष्टी जीव व्यन्तर और भवनवासी हो सकते हैं। असंख्यात वर्ष की आयुवाले मनुष्य और तिर्यंच मिथ्यादृष्टी तथा उत्कृष्ट तापस ये ज्योतिषीदेव तक हो सकते हैं। इसी प्रकार से आगे देवों की आगति और गतिका भी निरूपण किया गया है। इस क्रमसे यहां जीवों की गति-आगति की प्ररूपणा विस्तार से (१४६-७५) की गई है, जिसका आधार सम्भवतः मूलाचार का पर्याप्ति अधिकार रहा है।[1]

आगे जीवों के निवासस्थान की प्ररूपणा करते हुए कहा गया है कि जीवों का क्षेत्र लोक है जो धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, कालाणुओं और पुद्गलों से व्याप्त होकर आकाश के मध्य में अवस्थित है। उसका आकार नीचे बेतके आसन के समान, मध्य में झालर के समान और ऊपर मृदंग के समान है। यद्यपि सामान्यरूप से सभी लोक तिर्यंचों का क्षेत्र है, फिर भी नारकी, मनुष्य और देवों में उसका विभाग किया गया है। अधोलोक में रत्नप्रभा आदि जो सात पृथिवियां हैं उनमें नारकियों के बिल हैं, जिनमें वे निरन्तर अनेक प्रकार के दुःखों को सहते हुए रहते हैं। यहां उनके इन बिलों की संख्या और दुःख के कारणों का भी निर्देश किया गया है।

---

१. मूलाचार के पर्याप्ति अधिकार (१२) की निम्न गाथाओं से क्रमशः तत्त्वार्थसार के निम्न श्लोकों का मिलान कीजिए। इनमें अधिकांश प्राकृत गाथाओं का संस्कृत में रूपान्तर जैसा प्रतीत होता है—
मूला.—११२-१३, ११४-१५, ११६-१८, ११९-२०, १२३, १२५.
त. सा.—१४६-१४७, १४८, १४९-५१, १५२, १५४, १५६.
मूला.—१२४, १२६-३२, १३३-४०, १४१-१४२.
त. सा. १५७, १५८-६४, १६६-७३, १७४-७५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोक के मध्य में अवस्थित मध्यलोक में असंख्यात द्वीप–समुद्र हैं जो क्रम से गोलाकार होकर एक दूसरे को वेष्टित कर के स्थित हैं। सब के मध्य में जम्बूद्वीप और उसके मध्य में मन्दर (सुमेरू) पर्वत है। जम्बूद्वीप को घेरकर लवणसमुद्र, इसको घेरकर घातकी खण्डद्वीप, इसको घेरकर कालोद समुद्र और इसको घेरकर पुष्करद्वीप स्थित है। पुष्करद्वीप के बीचोंबीच एक मानुषोत्तर नाम का पर्वत स्थित है, जिससे उस द्वीप के दो विभाग हो गये हैं। इस प्रकार दो द्वीप पूरे, दो समुद्र और मानुषोत्तर से इधर का आधा पुष्करद्वीप, इतना क्षेत्र अढ़ाई द्वीप गिना जाता है। इसके भीतर ही मनुष्यों का निवास है। वे मनुष्य आर्य और म्लेच्छ के भेद से दो प्रकार के हैं। आर्यखण्डों में उत्पन्न होनेवाले आर्य और म्लेच्छखण्डों में उत्पन्न होनेवाले शक आदि म्लेच्छ कहलाते हैं। कुछ मनुष्य अन्तर द्वीपों में भी उत्पन्न होते हैं।

भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ये चार भेद देवों के हैं। घर्मा पृथिवी के प्रथम व द्वितीय विभाग में कुछ भवन हैं, जिनमें भवनवासी देव रहते हैं। रत्नप्रभा पृथिवी के मध्य में तथा उपरिम तलपर विविध अन्तरों में व्यन्तरदेव रहते हैं। रत्नप्रभा पृथिवी से ऊपर तिर्यग्लोक को आच्छादित कर आकाशगत पटलों में ज्योतिष्क देव रहते हैं। वैमानिक देव ऊर्ध्वलोक में स्थित तिरेसठ विमान प्रतरों में रहते हैं। ये देव क्रम से ऊपर ऊपर अपने कर्म के अनुसार कान्ति, लेश्याविशुद्धि, आयु, इन्द्रिय विषय, अवधि विषय, सुख और प्रभाव इनमें अधिक तथा मान, गमन, शरीर और परिग्रह इनमें हीन होते हैं। इस प्रकार संसारी जीवों का क्षेत्र समस्त लोक तथा सिद्धों का क्षेत्र लोक का अन्त है। अन्त में इस अधिकार को समाप्त करते हुए कहा गया है कि जो शेष तत्त्वों के साथ इस जीवतत्त्व का श्रद्धान करता है व उपेक्षा करता है—उनमें रागद्वेष नहीं करता है—वह मुक्तिगामी होता है।

३ अजीवतत्त्व—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पांच अजीव हैं। ये पांचों अजीव और पूर्वोक्त जीव ये छह द्रव्य कहे जाते हैं। इनमें एकप्रदेशात्मक कालको छोड़कर शेष पाच द्रव्य प्रदेश प्रचयात्मक होने से अस्तिकाय माने गये हैं। द्रव्यका लक्षण उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य है। वह (द्रव्य) गुण व पर्यायों से सहित होता है। अवस्थान्तर की प्राप्ति का नाम उत्पाद, पूर्व अवस्था के विनाश का नाम व्यय और पूर्वोत्तर दोनों ही अवस्थाओं में रहने वाले त्रैकालिक स्वभाव का नाम ध्रौव्य है। द्रव्य की विधि को उसके शाश्वतिक अस्तित्व को प्रकट करनेवाले स्वभाव को गुण और उसकी परिवर्तित होनेवाली अवस्थाओं को पर्याय कहा जाता है। ये दोनों ही–गुण और पर्यायें–उस द्रव्यसे भिन्न नहीं हैं—तदात्मक ही हैं। उक्त छह द्रव्यों में एक पुद्गल रूपी (मूर्तिक) और शेष पाच अरूपी हैं। धर्म, अधर्म और आकाश ये एक एक द्रव्य हैं तथा काल, पुद्गल और जीव ये अनेक रूपता को लिये हुए हैं। उक्त छह द्रव्यों में क्रियावान् जीव और पुद्गल ये दो ही द्रव्य हैं, शेष चार निष्क्रिय हैं। इस प्रकार से अजीव तत्त्व की प्ररूपणा करते हुए आगे उन द्रव्यों की प्रदेश संख्या, अवगाह व उपकार का निरूपण किया गया है।

तत्पश्चात् धर्म-अधर्म आदि उक्त द्रव्यों का स्वरूप प्रगट करते हुए उनके अस्तित्व को सिद्ध किया गया है। प्रसंगानुसार काल और पुद्गल द्रव्य के कुछ भेद-प्रभेदों का भी विवेचन किया गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. **आस्रवतत्त्व**— कर्मके आस्रवणका (आगमन) जो कारण है वह आस्रव कहलाता है। जिस प्रकार तालाब में नाली के द्वारा पानी का आस्रवण होता है, अतः उस नाली को जलका आस्रव कहा जाता है, उसी प्रकार चूंकि योग के द्वारा कर्म का आस्रवण होता है, अतः उस योग को आस्रव कहा जाता है। शरीर, वचन और मन की क्रिया का नाम योग है। वह थोडा शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का है। इनमें शुभ योग पुण्य का और अशुभ योग पाप का आस्रव है। साम्परायिक और ईर्यापथ के भेद से कर्म दो प्रकार का है। कषायसहित प्राणी जिस कर्म को बांधता है वह बांधी गई स्थिति के अनुसार आत्मा के साथ सम्बद्ध रहकर हीनाधिक फल दिया करता है, इसीको साम्परायिक कर्म कहा जाता है। परन्तु ईर्यापथ कर्म वह है जो कषाय से रहित प्राणी के योग के निमित्त से आकर के स्थिति व अनुभाग से रहित होता हुआ आत्मा के साथ सम्बद्ध नहीं रहता। जैसे–सूखी दिवाल पर मारा हुआ ढेला उससे सम्बद्ध न होकर उसी समय गिर जाता है। इसी प्रकार योग के विद्यमान रहने से कर्म आता तो है, पर कषाय के अभाव में वह स्थिति व अनुभाग से रहित होता है। इस प्रकार प्रथमतः सामान्यरूप से आस्रव के स्वरूप आदि को दिखलाकर पश्चात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, असातावेदनीय, सातावेदनीय, दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, नारक आयु, तिर्यंगायु, मनुष्यायु, देवायु, अशुभ नामकर्म, शुभ नामकर्म, तीर्थंकरत्व नामकर्म, नीचगोत्र, उच्चगोत्र और अन्तराय इन कर्मों के आस्रव हेतुओं का क्रमशः पृथक् पृथक् निरूपण किया गया है। तत्त्वार्थसूत्र में इन कर्मों के आस्रव के जो भी कारण निर्दिष्ट किए गए हैं उनसे यहां वे कुछ अधिक कहे गए हैं। उनका उल्लेख सम्भवतः तत्त्वार्थवार्तिक के आधार से किया गया प्रतीत होता है।

यह पूर्व में कहा जा चुका है कि शुभ योग पुण्य के आस्रव का कारण है और अशुभ योग पाप के आस्रव का। इसे स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है कि व्रत से पुण्य का आस्रव होता है और अव्रत से पाप का। हिंसादि पांच पापों के परित्याग का नाम व्रत है। इनका पूर्णतया परित्याग कर देने को महाव्रत और देशतः त्याग को अणुव्रत कहा जाता है। पूर्णतया उनका त्याग करनेवाले साधु और देशतः त्याग करनेवाले श्रावक कहलाते हैं। आगे उक्त पांचों के परित्याग रूप पांच व्रतों पृथक् पृथक् पांच पांच भावनाओं आदि का निर्देश करते हुए हिंसादिका स्वरूप कहा गया है। इस प्रकार पांच महाव्रतों व अणुव्रतों का निरूपण करके आगे दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थ दण्डव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग संख्या और अतिथि संविभाग इन सात शीलव्रतों का निर्देश किया गया है। उक्त सात शीलव्रतों के साथ पूर्वोक्त पांच अणुव्रतों को ग्रहण करने पर ये बारह श्रावक के व्रत कहे जाते हैं। अन्तमें–मरणकी सम्भावना होने पर–सल्लेखनापूर्वक प्राणों का त्याग भी अवश्य करणीय है। प्रकृत अधिकार को समाप्त करते हुए आगे यथाक्रम से सम्यक्त्व, बारह व्रत और सल्लेखना के अतीचार भी कहे गये हैं।

५. **बन्धतत्त्व**— यहां सर्वप्रथम मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद, कषाय और योग इन पांच बन्ध के कारणों का निर्देश करते हुए क्रमसे उनके स्वरूप व भेदों का निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् बन्ध का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि जीव कर्मोदय से कषाययुक्त होकर योग के द्वारा कर्म के योग्य पुद्गलों को जो सब ओर से ग्रहण करता है, इसका नाम बन्ध है। यह बन्ध आत्मा की कथंचित् मूर्त अवस्था में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ करता है। यद्यपि आत्मा स्वभावतः अमूर्तिक ही है, फिर भी चूंकि वह अनादि काल से कर्म के साथ सम्बद्ध हो रहा है, अतएव एक साथ गलाये गये सुवर्ण और चांदी में जिस प्रकार एकरूपता देखी जाती है उसी प्रकार अनादि से जीव के व कर्म के प्रदेशों के एक क्षेत्रावगाह होकर परस्पर में अनुप्रविष्ट होने से उन दोनों में भी एकरूपता होती है। इस कारण मूर्त कर्म के साथ एकमेक होने से पर्याय की अपेक्षा आत्मा कथंचित् मूर्त भी है। तब वैसी अवस्था में कर्म का बन्ध उसके असम्भव नहीं है। हां, जो जीव उस अनादि कर्म बन्ध से रहित (मुक्त) हो जाता है उसके मूर्तता न रहने से वह कर्मबन्ध अवश्य असम्भव हो जाता है।

वह बन्ध प्रकृति, स्थिति, अनुभव (अनुभाग) और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का है। आगे इन चारों की प्ररूपणा करते हुए ज्ञानावरणादि रूप मूल व उत्तर प्रकृति के भेद, उनके आत्मा के साथ सम्बद्ध बने रहने की कालमर्यादा (स्थिति), पूर्वोपार्जित शुभ-अशुभ कर्मों के विपाक तथा सभी भवों में योगविशेष से सर्व कर्म प्रकृतियों के योग्य सूक्ष्म पुद्गल स्कन्धों को आत्मप्रदेशों में आत्मसात् करने रूप प्रदेश का विवेचन किया गया है।

६. **संवरतत्त्व**—गुप्ति, समिति, धर्म, परीषहजय, तप, अनुप्रेक्षा और चारित्र इन कारणों के द्वारा जो आस्रव का निरोध होता है, इसे संवर कहते हैं। आगे इन संवर के कारणों की क्रम से प्ररूपणा करते हुए इस अधिकार को समाप्त किया गया है।

७. **निर्जरातत्त्व**—उपार्जित कर्मों का आत्मा से पृथक् होना, इसका नाम निर्जरा है। वह दो प्रकार की है—विपाकजा और अविपाकजा। कर्मबन्ध की परम्परा बीज और अंकुर की परम्परा के समान अनादि है। पूर्वबद्ध कर्म का उदय प्राप्त होने पर जो वह अपना फल देकर क्षीण होता है, इसे विपाकजा निर्जरा कहते हैं। तथा जो कर्म उदय को प्राप्त न होकर तप के प्रभाव से उदयप्राप्त कर्म की उदयावली में प्रविष्ट कराकर वेदा जाता—अनुभव में आता है, उसे अविपाकजा निर्जरा कहा जाता है। जैसे—कटहल आदि फलों को पाककाल के पूर्व में ही उपाय द्वारा पका लिया जाता है, इसी प्रकार कर्म का भी परिपाक समझना चाहिए। इनमें विपाकजा निर्जरा तो सभी प्राणियों के हुआ करती है, किन्तु अविपाकजा तपस्वियों के ही हुआ करती है। आगे निर्जरा के कारणभूत उस तप के प्रसंग में क्रम से अवमोदर्य, उपवास, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्या, कायक्लेश और विविक्तशय्यासन इन छह बाह्य तपों का तथा स्वाध्याय, शोधन (प्रायश्चित्त), वैयावृत्य, व्युत्सर्ग, विनय और ध्यान इन छह अभ्यन्तर तपों की प्ररूपणा की गई है।

८. **मोक्षतत्त्व**—बन्ध के कारणों के अभाव (संवर) और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा के हो जाने से जो समस्त कर्मों का विनाश हो जाता है, इसे मोक्ष कहते हैं। सयोगकेवली के योग का सद्भाव होने से जो एकमात्र सातावेदनीय का बन्ध होता था, योग का अभाव हो जाने से अयोगकेवली के वह भी नहीं होता। इस प्रकार समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से आत्मस्वरूप की जो प्राप्ति हो जाती है, इसी का नाम मोक्ष है। कर्मक्षय के साथ मुक्त जीवों के औपशमिकादि भावों का तथा भव्यत्व का भी अभाव हो जाता है, उनके उस समय सिद्धत्व, सम्यक्त्व, ज्ञान और दर्शन ये विद्यमान रहते हैं। कर्मबन्ध की परम्परा यद्यपि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनादि है, फिर भी उसका विनाश सम्भव है। जिस प्रकार बीज के विनष्ट हो जाने पर अंकुरोत्पत्ति की परम्परा के अनादि होने पर भी आगे उसका अभाव हो जाता है, इसी प्रकार बन्ध के कारणों का अभाव हो जाने से उक्त कर्मबन्ध की परम्परा के भी अभाव को समझना चाहिये। बन्ध का कारण आस्रव है, उसके नष्ट हो जाने पर फिर वह कारण के बिना कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। समस्त कर्म का क्षय हो जाने पर वायु के बिना अग्नि की ज्वाला के समान जीव का स्वभावतः लोकान्त तक ऊर्ध्वगमन होता है, धर्मास्तिकाय के बिना आगे उसका गमन सम्भव नहीं है। वहां सिद्धालय में पहुंचकर वह जहां अनन्तसिद्ध विराजमान हैं वहीं वह भी अवगाहन शक्ति की विलक्षणता से स्थित हो जाता है। जैसे—एक दीपक के द्वारा प्रकाशित क्षेत्र में अन्य अनेक दीपों का भी प्रकाश समा जाता है। इस प्रकार यहां मोक्ष विषयक अनेक शंकाओं का निराकरण करते हुए उसका वर्णन किया गया है। जो निर्बाधसुख कर्म परतंत्र संसारी जीवों को कभी सम्भव नहीं है वह मुक्त जीवों को प्राप्त है व अनन्तकाल तक उसी प्रकार रहनेवाला है।

उपसंहार—पूर्वप्ररूपित सात तत्त्वों का उपसंहार करते हुए अन्त में कहा गया है कि इस प्रकार प्रमाण नय निक्षेप, निर्देशादि और सदादि अनुयोग द्वारों के आश्रय से इन सात तत्त्वों को जानकर मोक्षमार्ग का आश्रय लेना चाहिए। वह निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है। निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग उसका साधक है। अपनी शुद्ध आत्मा का जो श्रद्धान, ज्ञान और उपेक्षा (तद्विषयक राग–द्वेष का अभाव) है; यह रत्नत्रयस्वरूप निश्चय मोक्षमार्ग है तथा परस्वरूप से जो श्रद्धान, ज्ञान और उपेक्षा है, वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्रस्वरूप व्यवहार मोक्षमार्ग है। जो मुनि परद्रव्यविषयक श्रद्धा, ज्ञान और उपेक्षा से युक्त होता है वह व्यवहारी मुनि है तथा जो स्वद्रव्यविषयक श्रद्धा, ज्ञान और उपेक्षा से सम्पन्न होता है वह निश्चय से मुनिश्रेष्ठ माना जाता है। निश्चय से आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा ही दर्शन है और आत्मा ही चारित्र है—आत्मा से भिन्न ज्ञानादि नहीं है। निश्चयदृष्टि से कर्ता, कर्म व करण आदि कारकों का भी भेद सम्भव नहीं है। अन्त में कहा गया है कि जो समबुद्धि—रागद्वेषरहित—जीव इस प्रकार से तत्त्वार्थसार को जानकर मोक्षमार्ग में स्थिरता से अधिष्ठित होता है वह संसार–बन्धन से छूट कर निश्चय से मोक्षतत्त्व को प्राप्त करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org